जीव-दया का विश्लेषण

पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य

जीव-दया के प्रकार

१. जीवदया का एक प्रकार पुण्यभाव रूप है। पुण्यभाव रूप होने के कारण उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्व में ही होता है, संवर और निर्जरा में अन्तर्भाव नहीं होता। यह पुण्यभाव रूप जीवदया व्यवहार-धर्मरूप जीवदया की उत्पत्ति में कारण है। इस बात को आगे स्पष्ट किया जायेगा।

२. जीवदया का दूसरा प्रकार जीव के शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्म रूप है। इसकी पुष्टि धवल-पुस्तक १३ के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट निम्न वचन के आधार पर होती है—

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।

अर्थ—करुणा जीव का स्वभाव है अत: इसके कर्मजनित होने का विरोध है।

यद्यपि धवला के इस वचन में जीव-दया को जीव का स्वत:सिद्ध स्वभाव बतलाया है, परन्तु जीव के स्वत:सिद्ध स्वभाव-भूत वह जीवदया अनादिकाल से मोहनीय कर्म की क्रोध-प्रकृतियों के उदय से विकृत रहती आई है, अत: मोहनीय कर्म की उन क्रोध-प्रकृतियों के यथा-स्थान यथायोग्य रूप में होने वाले उपशम, क्षय या क्षयोपशम से जब वह शुद्ध रूप में विकास को प्राप्त होती है तब उसे निश्चयधर्मरूपता प्राप्त हो जाती है। इसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्व में नहीं होता, क्योंकि जीव के शुद्ध स्वभावभूत होने के कारण वह कर्मों के आस्रव और बन्ध का कारण नहीं होती है। तथा इसका अन्तर्भाव संवर और निर्जरा तत्त्व में भी नहीं होता, क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही संवर और निर्जरापूर्वक होती है।

३. जीवदया का तीसरा प्रकार अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति के रूप में व्यवहारधर्म रूप है। इसका समर्थन भी आगम-प्रमाणों के आधार पर होता है। इसका अन्तर्भाव अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप होने के आधार पर संवर और निर्जरा का कारण हो जाने से संवर और निर्जरा तत्त्व में होता है, और दयारूप पुण्यप्रवृत्ति रूप होने के आधार पर आस्रव और बन्ध का कारण हो जाने से आस्रव और बन्धतत्त्व में भी होता है। कर्मों के संवर और निर्जरण में कारण होने से यह व्यवहारधर्मरूप जीवदया जीव के शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदया की उत्पत्ति में कारण सिद्ध होती है।

पुण्यभूत दया का विशेष स्पष्टीकरण

भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीव सतत विपरीताभिनिवेश और मिथ्याज्ञानपूर्वक आसक्तिवश अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं, तथा कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। ये जीव यदि कदाचित् अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति के साथ सम्यक् अभिनिवेश और सम्यग्ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो उनके अन्त:करण में उस अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति से घृणा उत्पन्न हो जाती है और तब वे उस अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस तरह वह पुण्यभावरूप जीवदया अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्ति-पूर्वक होने वाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति-रूप व्यवहारधर्म की उत्पत्ति में कारण सिद्ध हो जाती है।

निश्चयधर्मरूप जीवदया का विशेष स्पष्टीकरण

निश्चयधर्मरूप जीवदया की उत्पत्ति भव्य जीव में ही होती है, अभव्य जीव में नहीं। तथा उस भव्य जीव में उसकी उत्पत्ति मोह-नीय कर्म के भेद अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनरूप कषायों की क्रोध-प्रकृतियों का यथास्थान यथायोग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर शुद्ध स्वभाव के रूप में उत्तरोत्तर प्रकर्ष को लेकर होती है। इसकी प्रतिक्रिया निम्न प्रकार है—

(क) अभव्य और भव्य दोनों प्रकार के जीवों की भाववती शक्ति का अनादिकाल से अनन्तानुबन्धी आदि उक्त चारों कषायों की क्रोध-प्रकृतियों के सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है। दोनों प्रकार के जीवों में उस अदयारूप विभावपरिणमन की समाप्ति में कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियों के विकास की योग्यता भी स्वभावतः विद्यमान है। भव्य जीवों में तो उस अदयारूप विभाव-परिणति की समाप्ति में अनिवार्य कारणभूत आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि के विकास की योग्यता भी स्वभावतः विद्यमान है। इस तरह जिस भव्य जीव में जब क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियों का विकास हो जाने पर उक्त करणलब्धि का भी विकास हो जाता है तब सर्वप्रथम उस करणलब्धि के बल से उस भव्य जीव में मोहनीय कर्म के भेद दर्शनमोहनीय कर्म की यथासंभवरूप में विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूप तीन प्रकृतियों का व चारित्रमोहनीयकर्म के प्रथमभेद अनन्तानुबंधी कषाय के नियम से विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियों के साथ क्रोध प्रकृति का भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर चतुर्थ गुणस्थान के प्रथम समय में उसकी उस भाववती शक्ति का शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म के रूप में एक प्रकार का जीवदया-रूप परिणमन होता है।

(ख) इसके पश्चात् उस भव्यजीव में यदि उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि का विशेष उत्कर्ष हो जावे, तो उसके बल से उसमें चारित्रमोहनीय कर्म के द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषाय की नियम से विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियों के साथ क्रोध-प्रकृति का भी क्षयोपशम होने पर पंचम गुणस्थान के प्रथम समय में उसकी उस भाववती शक्ति का शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म के रूप में दूसरे प्रकार का जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् उस भव्य जीव में यदि उस आत्मोमुखता-रूप करणलब्धि का और विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बल से उसमें चारित्रमोहनीयकर्म के तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषाय की नियम से विद्यमान मान, माया और लोभ-प्रकृतियों के साथ क्रोध-प्रकृति का भी क्षयोपशम होने पर सप्तम गुणस्थान के प्रथम समय में उसकी उस भाववती शक्ति का शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म के रूप में तीसरे प्रकार का जीवदयारूप परिणमन होता है। यहां यह ज्ञातव्य है कि सप्तम गुणस्थान को प्राप्त जीव सतत सप्तम से षष्ठ और षष्ठ से सप्तम दोनों गुणस्थानों में अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तराल से झूले की तरह झूलता रहता है।

(घ) उक्त प्रकार सप्तम से षष्ठ और षष्ठ से सप्तम दोनों गुणस्थानों में झूलते हुए जीव में यदि सप्तम गुणस्थान से पूर्व ही दर्शन-मोहनीय कर्म की उक्त तीन और चारित्रमोहनीय कर्म के प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषाय की उक्त चार—इन सात प्रकृतियों का उपशम या क्षय हो चुका हो, अथवा सप्तम गुणस्थान में ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि का सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानों में क्रमशः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के रूप में और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है और तब नवम गुणस्थान में ही उस जीव में चारित्रमोहनीय कर्म के उक्त द्वितीय और तृतीय भेदरूप अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों की क्रोध-प्रकृतियों के साथ चारित्रमोहनीय कर्म के चतुर्थ भेद संज्वलन कषाय की क्रोध-प्रकृति का भी उपशम या क्षय होने पर उस जीव की उस भाववती शक्ति का शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म के रूप में चौथे प्रकार का जीवदयारूप परिणमन होता है।

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों की भाववती शक्ति का अनादिकाल से चारित्र-मोहनीय कर्म के भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों की क्रोध प्रकृतियों के सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है, परन्तु जब जिस भव्य जीव की उस भाववतीशक्ति का वह अदयारूप विभाव-परिणमन यथास्थान उस-उस क्रोध-प्रकृति का यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर यथायोग्य रूप में समाप्त होता जाता है, तब उसके बल से उस जीव की उस भाववतीशक्ति का उत्तरोत्तर विशेषता लिए हुए शुद्ध स्वभावरूप निश्चय धर्म के रूप में दयारूप परिणमन होता जाता है। इतना अवश्य है कि उन क्रोध-प्रकृतियों का यथा-स्थान यथायोग्य रूप में होने वाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम उस भव्य जीव में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियों के विकासपूर्वक आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि का विकास होने पर ही होता है।

व्यवहारधर्मरूप जीवदया का विशेष स्पष्टीकरण

भव्य जीव में उपर्युक्त पांचों लब्धियों का विकास तब होता है जब वह जीव अपनी क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तियों को क्रियावती शक्ति के ही परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक अदया-रूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तियों से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप में निवृत्तिपूर्वक करने लगता है। इन अदयारूप संकल्पी-पापमय अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्तिपूर्वक की जाने वाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति का नाम ही व्यवहारधर्म रूप दया है। इस तरह यह निर्णीत है कि जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप व्यवहारधर्मरूप जीवदया के बल पर ही भव्यजीव में भाववती शक्ति के परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीव-दया की उत्पत्ति में कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रयोग्य और करणलब्धियों का विकास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। इस तरह निश्चयधर्म रूप जीवदया की उत्पत्ति में व्यवहारधर्म रूप जीवदया कारण सिद्ध हो जाती है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि कोई-कोई अभव्य जीव भी व्यवहारधर्म रूप दया को अंगीकार करके अपने में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियों का विकास कर लेता है। इतना अवश्य है कि उसकी स्वभावभूत अभव्यता के कारण उसमें आत्मोन्मुखतारूप करण-लब्धि का विकास नहीं होता है। इस तरह उसमें भाववती शक्ति के परिणमनस्वरूप निश्चयधर्म रूप जीवदया का विकास भी नहीं होता है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि भव्य जीव में उक्त क्रोध-प्रकृतियों का यथासंभव रूप में होने वाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम यद्यपि आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि का विकास होने पर ही होता है, परन्तु उसमें उस करणलब्धि का विकास क्रमशः क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य इन चारों लब्धियों का विकास होने पर ही होता है। अतः इन चारों लब्धियों को भी उक्त क्रोध-प्रकृतियों के यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम में कारण माना गया है।

जीव की भाववती और क्रियावती शक्तियों के सामान्य परिणमनों का विवेचन

जीव की भाववती और क्रियावती—इन दोनों शक्तियों को आगम में उसके स्वतःसिद्ध स्वभाव के रूप में बतलाया गया है। इनमें से भाववतीशक्ति के परिणमन एक प्रकार से तो मोहनीयकर्म के उदय में विभाव-रूप, व उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशम में शुद्ध स्वभावरूप होते हैं, तथा दूसरे प्रकार से हृदय के सहारे पर तत्त्वश्रद्धानरूप या अतत्त्वश्रद्धान रूप और मस्तिष्क के सहारे पर तत्त्वज्ञानरूप या अतत्त्वज्ञानरूप होते हैं। एवं क्रियावती शक्ति के परिणमन संसारावस्था में एक प्रकार से तो मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ और पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं, दूसरे प्रकार से पापमय अशुभ प्रवृत्ति से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप में निवृत्तिपूर्वक मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं और तीसरे प्रकार से सक्रिय मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के सहारे पर पुण्य रूपता और पापरूपता से रहित आत्मक्रिया के रूप में होते हैं। इनके अतिरिक्त संसार का विच्छेद हो जाने पर जीव की क्रियावती शक्ति का चौथे प्रकार से जो परिणमन होता है, वह स्वभावतः उर्ध्वगमन-रूप होता है। जीव की क्रियावती शक्ति के इन चारों प्रकार से होने वाले परिणमनों में से पहले प्रकार के परिणमन कर्मों के आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकार के बन्ध में कारण होते हैं। दूसरे प्रकार के परिणमन पापमय अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप होने से भव्यजीव में यथायोग्य कर्मों के संवरपूर्वक निर्जरण में कारण होते हैं, तथा पुण्यरूप शुभ प्रवृत्तिरूप होने से यथायोग्य कर्मों के आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकार के बन्ध में कारण होते हैं। तीसरे प्रकार के परिणमन पुण्यरूपता और पापरूपता से रहित होने से केवल सातावेदनीय कर्म के आस्रवपूर्वक प्रकृति तथा प्रदेश बन्ध में कारण होते हैं और चौथे प्रकार का परिणमन केवल आत्माश्रित होने से कर्मों के आस्रव और बन्ध में कारण नहीं होता है और कर्मों के संवर और निर्जरणपूर्वक उन कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाने से कर्मों का संवर और निर्जरण का कारण होने का तो प्रश्न ही नहीं रहता है।

जीव की क्रियावती शक्ति के प्रवृत्तिरूप परिणमनों का विश्लेषण

जीव की भाववती शक्ति के हृदय के सहारे पर अतत्त्वश्रद्धानरूप, और मस्तिष्क के सहारे पर अतत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं, उनसे प्रभावित होकर जीव की क्रियावती शक्ति के आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं। एवं कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन भी होते हैं, इसी तरह जीव की भाववती शक्ति के हृदय के सहारे पर तत्त्वश्रद्धान रूप और मस्तिष्क के सहारे पर तत्त्वज्ञान रूप जो परिणमन होते हैं उनसे प्रभावित होकर जीव की क्रियावती शक्ति के एक तो आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अशुभ प्रवृत्ति रूप परिणमन होते हैं और दूसरे कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभप्रवृत्ति रूप परिणमन होते हैं।

संसारी जीव आसक्ति, मोह, ममता तथा राग और द्वेष के वशीभूत होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति रूप जो लोकविरुद्ध हिंसा, झूठ, चोरी तथा पदार्थों के अनावश्यक भोग और संग्रह-रूप क्रियाएँ सतत करता रहता है, वे सभी क्रियाएँ संकल्पी पाप कहलाती हैं। इनमें सभी तरह की स्वपरहितविघातक क्रियाएँ अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव अशक्ति, मजबूरी आदि अनिवार्य परिस्थितियोंवश मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति-रूप जो लोकसम्मत हिंसा, झूठ, चोरी तथा आवश्यक भोग और संग्रहरूप क्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ आरम्भीपाप कहलाती हैं। इनमें जीवन का संचालन, कुटुम्ब का भरण-पोषण तथा धर्म, संस्कृति, समाज, राष्ट्र और लोक का संरक्षण आदि उपयोगी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए नीतिपूर्वक की जाने वाली असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य तथा अनिवार्य भोग और संग्रह रूप क्रियाएँ अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव जितनी परहितकारी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ पुण्य कहलाती हैं। इस प्रकार की पुण्यरूप क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो सांसारिक स्वार्थवश की जाने वाली पुण्यरूप क्रिया और दूसरी कर्तव्यवश की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने वाली पुण्यरूप क्रिया। इनमें से कर्तव्यवश की जाने वाली पुण्यरूप क्रिया ही वास्तविक पुण्यक्रिया है। ऐसी पुण्यक्रिया से ही परोपकार की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वीतरागी देव की आराधना वीतरागता के पोषक शास्त्रों का पठन-पाठन, चिन्तन और मनन व वीतरागता के मार्ग पर आरूढ़ गुरुओं की सेवा-भक्ति तथा स्वालम्बन शक्ति को जाग्रत् करने वाले व्रताचरण और तपश्चरण आदि भी पुण्यक्रियाओं में अन्तर्भूत होते हैं।

यहां इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त आरम्भी पाप भी यदि आसक्ति आदि के वशीभूत होकर किये जाते हैं तथा पुण्य भी अहंकार आदि के वशीभूत होकर किये जाते हैं तो उन्हें संकल्पी पाप ही जानना चाहिए।

संसारी जीव की क्रियावती शक्ति के दया और अदया-रूप परिणमनों का विवेचन

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि जीव की भाववतीशक्ति का चारित्रमोहनीय कर्म के भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों की क्रोध प्रकृतियों के उदय में अदयारूप विभाव-परिणमन होता है, और उन्हीं क्रोधप्रकृतियों के यथास्थान, यथासंभव रूप में होने वाले उपशम, क्षय या क्षयोपशम में दयारूप स्वभाव-परिणमन होता है। यहां जीव की क्रियावती शक्ति के मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमनों के विषय में यह बतलाया जा रहा है कि जीव द्वारा परहित की भावना से की जाने वाली क्रियाएँ पुण्य के रूप में दया कहलाती हैं और जीव द्वारा पर के अहित की भावना से की जाने वाली क्रियाएँ संकल्पीपाप के रूप में अदया कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त जीव की जिन क्रियाओं में पर के अहित की भावना प्रेरक न होकर केवल स्वहित की भावना प्रेरक हो, परन्तु जिनसे पर का अहित होना निश्चित हो, वे क्रियाएँ आरम्भीपाप के रूप में अदया कहलाती हैं। जैसे—एक व्यक्ति द्वारा अनीतिपूर्वक दूसरे व्यक्ति पर आक्रमण करना संकल्पीपापरूप अदया है, परन्तु उस दूसरे व्यक्ति द्वारा आत्मरक्षा के लिए उस आक्रामक व्यक्ति पर प्रत्याक्रमण करना आरम्भीपापरूप अदया है।

यहां इतना विशेष जानना चाहिए कि जीव की पुण्यमय क्रिया संकल्पीपापमय क्रिया के साथ भी संभव है और आरम्भीपापमय क्रिया के साथ भी संभव है, परन्तु संकल्पी और आरम्भी दोनों पापरूप क्रियाओं में जीव की प्रवृत्ति एक साथ नहीं हो सकती है, क्योंकि संकल्पीपापरूप क्रियाओं के साथ जो आरम्भीपापरूप क्रियाएँ देखने में आती हैं उन्हें वास्तव में संकल्पी पापरूप क्रियाएँ ही मानना युक्तिसंगत है। इस तरह संकल्पी पापरूप क्रियाओं से सर्वथा त्यागपूर्वक जो आरम्भी पापरूप क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हें ही वास्तविक आरम्भीपापरूप क्रियाएँ समझना चाहिए।

व्यवहारधर्मरूप दया का विश्लेषण और कार्य

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव द्वारा मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओं के साथ परहित की भावना से की जाने वाली मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ क्रियाएं पुण्य के रूप में दया कहलाती हैं और वे कर्मों के आस्रव और बन्ध का कारण होती हैं, परन्तु भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों द्वारा कम से कम मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओं से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप में होने वाली सर्वथा निवृत्तिपूर्वक जो मानसिक, वाचनिक और कायिक दया के रूप में पुण्यमय शुभ क्रियाएं की जाने लगती हैं वे क्रियाएं ही व्यवहारधर्मरूप दया कहलाती हैं। इसमें हेतु यह है कि उक्त संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओं से निवृत्तिपूर्वक की जाने वाली पुण्यभूत दया भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियों के विकास का कारण होती है, तथा भव्य जीव में तो वह पुण्यरूप दया इन लब्धियों के विकास के साथ आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि के विकास का कारण होती है। उक्त करणलब्धि प्रथमतः मोहनीयकर्म के भेद दर्शनमोहनीय कर्म की यथासंभव रूप में विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूप तीन व मोहनीयकर्म के भेद चारित्रमोहनीयकर्म की अनन्तानुबन्धी कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार—इस तरह सात प्रकृतियों के यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम में कारण होती हैं। इस तरह उक्त व्यवहारधर्म रूप दया कर्मों के संवर और निर्जरण में कारण सिद्ध हो जाती हैं। इतनी बात अवश्य है कि उस व्यवहारधर्म रूप दया में जितना पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति का अंश विद्यमान रहता है वह तो कर्मों के आस्रव और बन्ध का ही कारण होता है तथा उस व्यवहारधर्म रूप दया का संकल्पीपापमय अदयारूप प्रवृत्ति से होने वाली सर्वथा निवृत्ति का अंश ही कर्मों के संवर और निर्जरण का कारण होता है। द्रव्यसंग्रहग्रन्थ की गाथा ४५ में जो व्यवहार-चारित्र का लक्षण निर्धारित किया गया है, उसके आधार पर व्यवहारधर्म रूप दया का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—अशुभ से निवृत्तिपूर्वक होने वाली शुभ प्रवृत्ति को जिन भगवान् ने व्यवहार-चारित्र कहा है। ऐसा व्यवहार-चारित्र व्रत, समिति और गुप्तिरूप होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस गाथा में व्रत, समिति और गुप्ति को व्यवहारचारित्र कहने में हेतु यह है कि इनमें अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति का रूप पाया जाता है। इस तरह इस गाथा से निर्णीत हो जाता है कि जीव पुण्यरूप जीवदया को जब तक पापरूप अदया के साथ करता है तब तक तो उस दया का अन्तर्भाव पुण्य-रूप दया में होता है और वह जीव उक्त पुण्य-रूप जीव-दया को जब पाप-रूप अदया से निवृत्तिपूर्वक करने लग जाता है तब वह पुण्यभूत दया व्यवहार-धर्म का रूप धारण कर लेती है, क्योंकि इस दया से जहाँ एक ओर पुण्यमय प्रवृत्तिरूपता के आधार पर कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है वहां दूसरी ओर उस दया से पापरूप अदया से निवृत्तिरूपता के आधार पर भव्य जीव में कर्मों का संवर और निर्जरण भी हुआ करता है। व्यवहार-धर्म रूप दया से कर्मों का संवर और निर्जरण होता है, इसकी पुष्टि आचार्य वीरसेन के द्वारा जयधवला के मंगलाचरण की व्याख्या में निर्दिष्ट निम्न वचन से होती है—

सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ—शुभ और शुद्ध के रूप में मिश्रित परिणामों से यदि कर्म-क्षय नहीं होता हो, तो कर्मक्षय का होना असंभव हो जायेगा।

आचार्य वीरसेन के वचन में 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद का ग्राह्य अर्थ

आचार्य वीरसेन के वचन के 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद में सुह और सुद्ध दो शब्द विद्यमान हैं। इनमें से 'सुह' शब्द का अर्थ भव्य जीव की क्रियावती शक्ति के प्रवृत्तिरूप शुभ परिणमन के रूप में और 'सुद्ध' शब्द का अर्थ उस भव्य जीव की क्रियावती शक्ति के अशुभ से निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन के रूप में ग्रहण करना ही युक्त है। 'सुह' शब्द का अर्थ जीव की भाववती शक्ति के पुण्यकर्म के उदय में होने वाले शुभ परिणाम के रूप में और 'सुद्ध' शब्द का अर्थ उस जीव की भाववती शक्ति के मोहनीय कर्म के यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम में होने वाले शुद्ध परिणमन के रूप में ग्रहण करना युक्त नहीं है। आगे इसी बात को स्पष्ट किया जाता है—

जीव की क्रियावती शक्ति के मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन कर्मों के आस्रव और बन्ध के कारण होते हैं, और उसी क्रियावती शक्ति के मानसिक, वाचनिक और कायिक उन प्रवृत्ति-रूप परिणमनों से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप में निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन भव्य जीव में कर्मों के संवर और निर्जरण के कारण होते हैं। जीव को भाववती शक्ति के न तो शुभ और अशुभ परिणमन कर्मों के आस्रव और बन्ध के कारण होते हैं, और न ही उसके शुद्ध परिणमन कर्मों के संवर और निर्जरण के कारण होते हैं, इसमें यह हेतु है कि जीव की क्रियावती शक्ति का मन, वचन और कायिक सहयोग से जो क्रियारूप परिणमन होता है, उसे योग कहते है ('कायवाङ्मनःकर्म योगः'—त० सू० ६-१)। यह योग यदि जीव की भाववती शक्ति के पूर्वोक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनों से प्रभावित हो तो उसे शुभ योग कहते हैं और वह योग यदि जीव की भाववती शक्ति के पूर्वोक्त अतत्त्वश्रद्धान अतत्त्वज्ञान रूप अशुद्ध परिणमनों से प्रभावित हो तो उसे अशुभ योग कहते हैं, ('शुभपरिणामनिवृत्तो योगः शुभः)। अशुभपरिणामनिवृत्तो योगः अशुभः'—सर्वार्थ-सिद्धि ६-३) यह योग ही कर्मों का आस्रव अर्थात् बन्ध का द्वार कहलाता है। ('स आश्रवः' त०सू०६-२)। इस तरह जीव की क्रियावती शक्ति का शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही कर्मों के आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप बन्ध का कारण सिद्ध होता है।

यद्यपि योग की शुभरूपता और अशुभरूपता का कारण होने से जीव की भाववती शक्ति के तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ परिणमनों को व अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञान रूप अशुभ परिणमनों को भी कर्मों के आस्रवपूर्वक बन्ध का कारण मानना अयुक्त नहीं है, परन्तु कर्मों के आस्रव और बन्ध का साक्षात् कारण तो योग ही निश्चित होता है। जैसे कोई डाक्टर शीशी में रखी हुई तेजाब को भ्रमवश आंख की दवाई समझ रहा है तो भी तब तक वह तेजाब रोगी की आंख को हानि नहीं पहुंचाती है, जब तक वह डाक्टर उस तेजाब को रोगी की आंख में नहीं डालता है। जब डाक्टर उस तेजाब को रोगी की आंख में डालता है तो तत्काल वह तेजाब रोगी की आंख को हानि पहुंचा देती है। इसी तरह आंख की दवाई को आंख की दवाई समझकर भी जब तक डाक्टर उसे रोगी की आंख में नहीं डालता है तब तक वह दवाई उस रोगी की आंख को लाभ नहीं पहुंचाती है। परन्तु,जब डाक्टर उस दवाई को आंख में डालता है, तो तत्काल वह दवाई रोगी की आंख को लाभ पहुंचा देती है। इससे निर्णीत होता है कि जीव की क्रियावती शक्ति का शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही आस्रव और बन्ध का कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीव की भाववती शक्ति का हृदय के सहारे पर होने वाला तत्त्वश्रद्धान रूप शुभ परिणमन या अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमन और जीव की भाववती शक्ति का मस्तिष्क के सहारे पर होने वाला तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमन या अतत्त्व-ज्ञानरूप अशुभ परिणमन भी योग की शुभरूपता और अशुभरूपता में कारण होने से परम्परया आस्रव और बन्ध में कारण माने जा सकते हैं, परन्तु आस्रव और बन्ध में साक्षात् कारण तो योग ही होता है।

इसी प्रकार जीव की क्रियावती शक्ति के योग-रूप परिणमन के निरोध को ही कर्म के संवर और निर्जरण में कारण मानना युक्त है ('आस्रवनिरोधः संवरः'—त०सू०९-१)। जीव की भाववती शक्ति के मोहनीयकर्म के यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशम में होने वाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनों को संवर और निर्जरा का कारण मानना युक्त नहीं है, क्योंकि भाववती शक्ति के स्वभावभूत शुद्ध परिणमन मोहनीय कर्म के यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होने के कारण संवर और निर्जरा के कार्य हो जाने से कर्मों के संवर और निर्जरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कारण सिद्ध नहीं होते हैं। एक बात और ! जब जीव की क्रियावती शक्ति के योगरूप परिणमनों से कर्मों का आस्रव होता है तो कर्मों के संवर और निर्जरण का कारण योग-निरोध को ही मानना युक्त है। यही कारण है कि जीव में गुणस्थानक्रम से जितना-जितना योग का निरोध होता जाता है उस जीव में वहां उतना-उतना कर्मों का संवर नियम से होता जाता है, तथा जब योग का पूर्ण निरोध हो जाता है तब कर्मों का संवर भी पूर्णरूप से हो जाता है। कर्मों का संवर होने पर बद्ध कर्मों की निर्जरा या तो निषेक-रचना के अनुसार सविपाक रूप में होती है अथवा 'तपसा निर्जरा च' (त० सू० ९-३) के अनुसार क्रियावती शक्ति के परिणमन-स्वरूप तप के बल पर अविपाक रूप में होती है। इसके अतिरिक्त यदि जीव की भाववतीशक्ति के स्वभावभूत शुद्ध परिणमनों को संवर और निर्जरा का कारण स्वीकार किया जाता है तो जब द्वादश गुणस्थान के प्रथम समय में ही भाववती शक्ति के स्वभावभूत परिणमन की शुद्धता का पूर्ण विकास हो जाता है तो एक तो द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानों में सातावेदनीय कर्म का आस्रवपूर्वक प्रकृति और प्रदेशरूप में बन्ध नहीं होना चाहिए। दूसरे द्वादश गुणस्थान के प्रथम समय में ही भाववती शक्ति के स्वभावभूत परिणमन की शुद्धता का पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घाती कर्मों का तथा चारों अघाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना चाहिए। परन्तु जब ऐसा होता नहीं है तो यही स्वीकार करना पड़ता है कि आस्रव और बन्ध का मूल कारण योग है, और विद्यमान ज्ञानावरणादि उक्त तीनों घाती कर्मों की एवं चारों अघाती कर्मों की निर्जरा निषेकक्रम से ही होती है। त्रयोदश गुणस्थान में केवली भगवान् अघाती कर्मों की समान स्थिति का निर्माण करने के लिए जो समुद्-घात करते हैं वह भी उनकी क्रियावती शक्ति का ही कायिक परिणमन है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जयधवला के मंगलाचरण की व्याख्या में निर्दिष्ट आचार्य वीरसेन के उपर्युक्त वचन के अंगभूत "सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद से जीव की क्रियावती शक्ति के अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक शुभ में प्रवृत्ति-रूप परिणमनों का अभिप्राय ग्रहण करना ही संगत है। भाववती शक्ति के तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ व मोहनीय कर्म के यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम में होने वाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनों का अभिप्राय ग्रहण करना संगत नहीं है।

यहां यह बात भी विचारणीय है कि जयधवला के उक्त वचन के 'सुह-सुद्ध परिणामेहिं' पद के अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द का अर्थ यदि जीव की भाववतीशक्ति के मोहनीय कर्म के यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशम में विकास को प्राप्त शुद्ध परिणमन स्वरूप निश्चयधर्म के रूप में स्वीकार किया जाये तो उस पद के अन्तर्गत 'सुह' शब्द का अर्थ पूर्वोक्त प्रकार जीव की भाववतीशक्ति के तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ परिणमन के रूप में तो स्वीकार किया ही नहीं जा सकता है, इसलिए उस 'सुह' शब्द का अर्थ यदि जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमन स्वरूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाये तो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति तो कर्मों के आस्रव और बन्ध का ही कारण होती है। अतः उस 'सुह' शब्द का अर्थ जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमन स्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति के रूप में ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि इस प्रकार के व्यवहार-धर्म के पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप अंश से जहां कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है, वहीं उसके पापमय अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप अंश से कर्मों का संवर और निर्जरण भी होता है। परन्तु ऐसा स्वीकार कर लेने पर भी जीव की भाववती शक्ति के स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप परिणमन को पूर्वोक्त प्रकार कर्मों के संवर और निर्जरण का कारण सिद्ध न होने से 'सुद्ध' शब्द का अर्थ कदापि नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार जयधवला के 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद के अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द के निरर्थक होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतः उक्त 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' इस सम्पूर्ण पद का अर्थ जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति के रूप में ही ग्राह्य हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि जीव को मोक्ष की प्राप्ति उसकी भाववती शक्ति का शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म के रूप में परिणमन होने पर ही होती है, इस लिए 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद के अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द निरर्थक नहीं है तो इस बात को स्वीकार करने में यद्यपि कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु ऐसा स्वीकार करने पर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि मोक्ष की प्राप्ति जीव की भाववती शक्ति के स्वभाव भूत शुद्ध परिणमन के होने पर होना एक बात है और उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमन को कर्मक्षय का कारण मानना अन्य बात है, क्योंकि वास्तव में देखा जाये तो द्वादशगुणस्थानवर्ती जीव का वह शुद्ध स्वभाव मोक्षरूप शुद्ध स्वभाव का ही अंश है जो मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय होने पर ही प्रकट होता है।

अन्त में एक बात यह भी विचारणीय है कि उक्त 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद के अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द का जीव की भाववती शक्ति का स्वभावभूत शुद्ध परिणमन अर्थ स्वीकार करने पर पूर्वोक्त यह समस्या तो उपस्थित है ही कि द्वादश गुणस्थान के प्रथम समय में शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म का पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घाती कर्मों का एवं चारों अघाती कर्मों के एक साथ क्षय होने की प्रसक्ति होती है। साथ ही यह समस्या भी उपस्थित होती है कि जीव की भाववती शक्ति के स्वभावभूत शुद्ध परिणमन के विकास का प्रारम्भ जब प्रथम गुणस्थान के अन्त समय में मोहनीयकर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूप तीन और अनन्तानु-बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप चार, इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने पर चतुर्थ गुणस्थान के प्रथम समय में होता है तो ऐसी स्थिति में उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमन को कर्मों के संवर और निर्जरण का कारण कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना जा सकता है। यह बात पूर्व में स्पष्ट की जा चुकी है।

प्रकृति में कर्मों के आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जरा की प्रक्रिया

१. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब तक आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं तब तक वे उस प्रवृत्ति के आधार पर सतत कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं, तथा उस संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति के साथ वे यदि कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी करते हैं, तो भी वे उन प्रवृत्तियों के आधार पर सतत कमा का आस्रव और बन्ध भी किया करते हैं।

२. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब आसक्तिवश होने वाले संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति को कर्तव्यवश करने लगते हैं, तब भी वे कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

३. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप में सर्वथा त्याग कर यदि आसक्तिवश होने वाले मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं, तो भी वे कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

४. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के उक्त प्रकार सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का भी मनोगुप्ति, बचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप में एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग कर कर्तव्य-वश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं, तो भी वे कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

५. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वथा त्यागकर उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करते हुए अथवा उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वथा व उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का एकदेश या सर्वदेश त्याग कर कर्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हुए यदि क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियों का अपने में विकास कर लेते हैं, तो भी वे कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

६. यत: मिथ्यात्व गुणस्थान के अतिरिक्त सभी गुणस्थान भव्य जीव के ही होते हैं, अभव्य जीव के नहीं, अत: जो भव्य जीव सासादन सम्यग्दृष्टि हो रहे हों, उनमें भी उक्त पांचों अनुच्छेदों में से दो, तीन और चार संख्यक अनुच्छेदों में प्रतिपादित व्यवस्थाएँ यथा-योग्य पूर्व संस्कारवश या सामान्यरूप से लागू होती हैं, तथा अनुच्छेद तीन और चार में प्रतिपादित व्यवस्थाएँ मिथ्यात्व गुणस्थान की ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों में भी लागू होती हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों में अनुच्छेद एक में प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे जीव एक तो केवल संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति कदापि नहीं करते हैं व उनकी प्रवृत्ति अबुद्धिपूर्वक होने के कारण वे पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति भी सांसारिक स्वार्थवश नहीं करते हैं, तथा उनमें अनुच्छेद पांच में प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे अपना समय व्यतीत करके नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान को ही प्राप्त करते हैं। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थान की ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों में अनुच्छेद एक और दो में प्रतिपादित व्यवस्थाएँ इसलिए लागू नहीं होतीं कि उनमें संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव रहता है तथा उनमें अनुच्छेद पांच की व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे भी मिथ्यात्व गुणस्थान की ओर झुके हुए होने के कारण अपना समय व्यतीत करके मिथ्यात्व गुणस्थान को ही प्राप्त करते हैं। इस तरह सासादन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्व गुणस्थान की ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सतत यथायोग्य कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं। यहां यह ध्यातव्य है कि सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों के साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों की प्रवृत्तियां भी अबुद्धिपूर्वक हुआ करती हैं।

७. उपर्युक्त जीवों से अतिरिक्त जो भव्य मिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व-प्राप्ति की ओर झुके हुए हों अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्ति में अनिवार्य कारणभूत करणलब्धि को प्राप्त हो गये हों, वे नियम से यथायोग्य कर्मों का आस्रव और बन्ध करते हुए भी दर्शनमोहनीय कर्म की यथासम्भव रूप में विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति रूप तीन तथा चारित्र मोहनीय कर्म के प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषाय की नियम से विद्यमान—क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप चार—इस तरह सात कर्म-प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूप में संवर और निर्जरण किया करते हैं। इसी तरह चतुर्थ गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में विद्यमान जीव यथा-योग्य कर्मों का आस्रव और बन्ध, यथायोग्य कर्मों का संवर और निर्जरण किया करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का फलितार्थ

१. कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति ही किया करते हैं। अथवा संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ सांसारिक स्वार्थवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति कर्तव्यवश किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप शुभ प्रवृत्ति के साथ कर्तव्यवश पुण्यमय दया रूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं एवं कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के सर्वथा व आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के एकदेश अथवा सर्वदेश त्यागपूर्वक कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

२. कोई सासादन सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य रूप से संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ पूर्व संस्कार के बल पर कर्तव्यवश पुण्यमय दया रूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। कोई सासादन सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व संस्कार के बल पर संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्तिपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, और कोई सासादन सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व संस्कारवश संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा व आरम्भीपाप रूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से एकदेश अथवा सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि भव्य मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों के समान ही प्रवृत्ति किया करते हैं, परन्तु उनमें इतनी विशेषता है कि वे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति किसी भी रूप में नहीं करते हैं।

४. चतुर्थ गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में विद्यमान सभी जीव तृतीय गुणस्थानवर्ती जीवों के समान संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा रहित होते हैं। इस तरह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव या तो आसक्तिवश आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं अथवा आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

५. पंचम गुणस्थानवर्ती जीव नियम से आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से एकदेशनिवृत्तिपूर्वक दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना जीव को पंचम गुणस्थान कदापि प्राप्त नहीं होता है। इतना अवश्य है कि कोई पंचम गुणस्थानवर्ती जीव आरम्भीपापमय अदया रूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वदेशनिवृत्तिपूर्वक कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

६. षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव नियम से आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वदेश निवृत्ति-पूर्वक कर्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना जीव को षष्ठ गुणस्थान प्राप्त नहीं होता।

७. षष्ठ गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में जीव आरम्भीपापमय अदया रूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्त रहता है तथा पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी बाह्य रूप में नहीं करते हुए अन्तरंग रूप में ही तब तक करता रहता है, जब तक नवम गुणस्थान में उसको अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायों की क्रोध-प्रकृतियों के सर्वथा उपशम या क्षय करने की क्षमता प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जीव के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का उदय प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान के अन्त समय तक रहता है और पंचम गुणस्थान में और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है। इसी तरह जीव के प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का उदय प्रथम गुणस्थान से लेकर पंचम गुणस्थान के अन्त समय तक रहा करता है, और षष्ठ गुणस्थान में और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है तथा इन सभी गुणस्थानों में संज्वलन क्रोध कर्म का उदय ही रहा करता है। परन्तु संज्वलन क्रोध कर्म का उदय व अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मों का क्षयोपशम तब तक रहा करता है जब तक नवम गुणस्थान में इनका सर्वथा उपशम या क्षय नहीं हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का बन्ध चतुर्थ गुणस्थान तक ही होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का बन्ध पंचम गुणस्थान तक ही होता है और संज्वलन क्रोध कर्म का बन्ध नवम गुणस्थान के एक निश्चित भाग तक ही होता है। इन सबके बन्ध का कारण जीव की भाववती शक्ति के हृदय और मस्तिष्क के सहारे पर होने वाले यथायोग्य परिणमनों से प्रभावित जीव की क्रियावती शक्ति का मानसिक, वाचनिक और कायिक यथायोग्य प्रवृत्तिरूप परिणमन ही है। जीव चतुर्थ गुणस्थान में जब तक आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का यथायोग्य रूप में एकदेश त्याग नहीं करता, तब तक तो उसके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का बन्ध होता ही रहता है। परन्तु वह जीव यदि आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का एकदेश त्याग कर देता है और उस त्याग के आधार पर उसमें कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्म के क्षयोपशम की क्षमता प्राप्त हो जाती है तो इसके पूर्व उस जीव में उस क्रोध कर्म के बन्ध का अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था चतुर्थ गुणस्थान के समान प्रथम और तृतीय गुणस्थान में भी लागू होती है। इसी तरह जीव पंचम गुणस्थान में जब तक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वदेश त्याग नहीं करता तब तक तो उसके प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का बन्ध होता ही है, परन्तु यह जीव यदि आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वदेश त्याग कर देता है और इस त्याग के आधार पर उसमें कदाचित् उस प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म के क्षयोपशम की क्षमता प्राप्त हो जाती है तो इसके पूर्व उस जीव में उस क्रोध कर्म के बन्ध का अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था पंचम गुणस्थान के समान प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानों में भी लागू होती है। पंचम गुणस्थान के आगे के गुणस्थानों में तब तक जीव संज्वलन क्रोध कर्म का बन्ध करता रहता है जब तक वह नवम गुणस्थान में बन्ध के अनुकूल अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति करता रहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। और जब वह नवम गुणस्थान में संज्वलन क्रोध कर्म के उपशम या क्षय की क्षमता प्राप्त कर लेता है तो इसके पूर्व उस जीव में उस क्रोध कर्म के बन्ध का अभाव हो जाता है।

इतना विवेचन करने में मेरा उद्देश्य इस बात को स्पष्ट करने का है कि जीव की क्रियावती शक्ति के मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियों के रूप में होनेवाले परिणमन ही क्रोध कर्म के आस्रव और बन्ध में कारण होते हैं, और उन प्रवृत्तियों का निरोध करने से ही उन क्रोध कर्मों का संवर और निर्जरण करने की क्षमता जीव में आती है। जीव की भाववती शक्ति का न तो मोहनीय कर्म के उदय में होने वाला विभाव परिणमन आस्रव और बन्ध का कारण होता है और न ही मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोशम में होने वाला भाववती शक्ति का स्वभावरूप शुद्ध परिणमन संवर और निर्जरा का कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीव की भाववती शक्ति के हृदय के सहारे पर होने वाले तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ और अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ तथा मस्तिष्क के सहारे पर होने वाले तत्त्व-ज्ञानरूप शुभ और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन अपनी शुभरूपता और अशुभरूपता के आधार पर यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मों के आस्रव और बन्ध के परम्परया कारण होते हैं, और तत्त्वश्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन के रूप में तथा तत्त्व-ज्ञान व्यवहारसम्यग्ज्ञान के रूप में यथायोग्य कर्मों के आस्रव और बन्ध के साथ यथायोग्य कर्मों के संवर और निर्जरा के भी परम्परया कारण होते हैं।

इस विवेचन से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दया रूप शुभ प्रवृत्तियां यथायोग्य अशुभ और शुभ कर्मों के आस्रव और बन्ध का साक्षात् कारण होती हैं, तथा अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति यथायोग्य कर्मों के आस्रव और बन्ध के साथ यथायोग्य कर्मों के संवर और निर्जरण का साक्षात् कारण होती हैं, एवं जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमन स्वरूप तथा दयारूप शुभ और अदयारूप अशुभरूपता से रहित जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक योगरूप प्रवृत्ति मात्र सातावेदनीय कर्म के आस्रवपूर्वक केवल प्रकृति और प्रदेशरूप बन्ध का कारण होती है, तथा योग का अभाव कर्मों के संवर और निर्जरण का कारण होता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जीव-दया पुण्यरूप भी होती है, जीव के शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म रूप भी होती है तथा इस निश्चयधर्म रूप जीवदया की उत्पत्ति में कारणभूत व्यवहारधर्म रूप भी होती है। अर्थात् तीनों प्रकार की जीवदयाएं अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व रखती हैं।

मुणि-चारित्तं (मुनि-चारित्र)

पंच महव्वय साहू इयरो एक्काइणुव्वए अहवा।
सइ सामइयं साहू पडिवज्जइ इत्तरं इयरो॥
संपुण्णं परिपालइ सामायारिं सदेव साहु त्ति।
इयरो तक्कालम्मि वि अपरिण्णाणाइओ ण तहा॥
हिंसा-विरइ अहिंसा असच्च-विरई अदत्तविरई य।
तुरियं अबम्ह-विरई पंचम संगम्मि विरई य॥

भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि साधु अर्थात् मुनि पांच महाव्रतों का पालन करता है, तथा गृहस्थ उन्हीं पांचों में से एक, दो, तीन, चार अथवा पाँचों व्रतों का अणुरूप से पालन करता हुआ अणुव्रती होता है। साधु सामायिक संयम का पालन करता है अर्थात् समस्त दूषित आचरणों का एक ही सा परित्याग करता है जबकि दूसरा अणुव्रती श्रावक द्वितीय छेदोपस्थान नामक संयम का पालन करता हुआ अहिंसा आदि व्रतों का पृथक्-पृथक् रूपों से पालन करता है। साधु समस्त सामाचारी अर्थात् सम्यक् चारित्र का सदैव परिपालन करता है, किन्तु दूसरा अर्थात् गृहस्थ संयम के नियमों का पूर्णज्ञाता न होने से एक काल में सभी व्रतों का साधु के समान पालन नहीं कर सकता। हिंसा से विरति अर्थात् त्याग का नाम अहिंसा व्रत है। उसी प्रकार असत्य-त्याग दूसरा, व अदत्तादान अर्थात् चोरी का त्याग तीसरा व्रत है। अब्रह्म अर्थात् व्यभिचार का त्याग चतुर्थ, एवं संग अर्थात् परिग्रह का त्याग पंचम व्रत है।

(डा० हीरालाल जैन द्वारा संकलित 'जिनवाणी' पृ० १०२-३ से साभार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org